आखिर मोदी जर्मनी में भारतीयों को क्या बताना भूल गए?

विमल शंकर सिंह

पीएम मोदी मई, 2022 की शुरुआत में ही जर्मनी में थे। बर्लिन में उन्होंने भारतीय भाइयों से मुलाकात की और सम्बोधित भी किया। उनको बताया कि नया भारत, उदित होता भारत कैसा लगता है। उन्होंने कहा कि भारत स्वर्णिम आभा बिखेरने लगा है। उन्होंने बताया और समझाया भी कि भारत बहुत कुछ बदल चुका है। बदलाव नेतृत्व कर्ताओं में है। उनको बदलाव, भारतीयों की सोच, दशा और दिशा में भी दिखाई पड़ता है। लेकिन यह वह तबका है जो इस बदलाव से सबसे ज्यादा लाभान्वित हुआ है। लिहाजा मोदी की नीतियों का बखान वह नहीं करेगा तो फिर कौन करेगा। लेकिन सवाल यह है कि मोदी के सपनों के भारत में क्या जर्मनी में बैठे वही लोग ही शामिल हैं और वे क्या भारत के जन मन का प्रतिनिधित्व कर रहे थे? निश्चय ही नहीं। तो जर्मनी में मोदी किसको भूल गए थे? कौन-कौन सी समस्याओं की पोटली को वो खोलना भूल गए थे? क्या नहीं कहा, नहीं बताया उन्होंने। आइये जानें, समझें।

वो भूलते दिखाई पड़े एक सौ चालीस करोड़ जनसँख्या की आशा और अपेक्षा को। आशा थी तीव्र विकास की, रोजगार की। वो बताना भूल गए कि उनके शासन काल में विकास दर घटती हुई ज्यादा दिखाई देती है। 2014- 2015 में देश की विकास दर 7.4 प्रतिशत थी जो 2019- 20 में तेजी से घटी और 4.4 प्रतिशत रह गई। 2020-21 में यह ऋणात्मक (-7.3 प्रतिशत) हो गई थी। विमुद्रीकरण और जीएसटी के दंश ने डसा था विकास को। वो भूल गए अति निर्धन हो गयी जमात को। वो भूल गए उन नौजवानों की व्यथा को बताना जो पत्थर का सीना चीरना तो जानते हैं किन्तु शासन का नहीं और जो बेरोजगारी के पैरों तले रौंदे जाने के लिए मजबूर हैं।

सीएमआईई का आँकड़ा कहता है कि सन 2018 में बेरोजगारी, पिछले 45 वर्षों में अभूतपूर्व रूप से सबसे ज्यादा रही। यह दर सन 2019, सन 2020 में क्रमश: 5.27 प्रतिशत, 7.11 प्रतिशत, सन 2021(मई) में 12 प्रतिशत और सन 2022 (मार्च) में 7.6 प्रतिशत थी। उनको याद ही नहीं रहा कि देश एक अपरिमित असमानता के दंश को झेल रहा है। ऑक्सफेम की रिपोर्ट बताती है कि देश में खरबपतियों की संख्या सन 2021 में 102 से बढ़कर 142 हो गई। उनकी संपत्ति 23,14,000 करोड़ रुपये से बढ़ कर 53,16,000 करोड़ रुपये हो गयी। वो भूल गए बताना की काला धन कैसे सफ़ेद होकर उनके कार्यकाल में निकला है। विदेशों में जमा काला धन कब वापस आएगा, बताना भूल गए। महंगाई की मा'से अधमरी होती जनता की व्यथा कथा कहना वे भूल गए। अप्रैल, 2022 को मुद्रास्फीति की दर 7.79 प्रतिशत रही जो मई 2014 के पश्चात सर्वाधिक है। वो भूल गए बेसहारा होते किसानों को जो की उत्पादन वृद्धि के दबाव में दब गए। उत्पादन बढ़ाया उन्होंने तो भाव घटने की मार झेली भी उन्होंने ही।

किसानों की आय 2022 तक दुगनी हो जाएगी, उनका दिखाया सपना, सपना ही रह गया है। वे बताना भूल गए की जीडीपी- उधार अनुपात 90 प्रतिशत तक पहुंच गया है और देश दूसरा श्रीलंका बनने की तरफ अग्रसर है। वो बताना भूल गए कि विमुद्रीकरण के कारण असंगठित क्षेत्र बेमौत मर गया ।लघु उद्योग क्षेत्र की कमर अभी भी टूटी ही है। मध्यम वर्ग कराह रहा है और गरीबी की रेखा के ऊपर-नीचे नाच रहा है। तो वे बताना भूल गए अपनी आठ साल की इन आठ भूलों को । विश्व गुरु बनने की तमन्ना इन आठ भूलों के मकबरे पर गुम्बद बनाने जैसा है ।

जरा इसको और विस्तार दिया जाए। तो क्या यह साबित करने के लिए की मोदी शासन एक श्रेठ शासन है हम भी भूल जायें कि जिन्दा रहने के लिए रोटी आवश्यक होती है? हम भूल जायें की पसीना बहाना पुरुषार्थ की निशानी है तो पसीना बहाने के लिए रोजगार भी चाहिए। हम भूल जायें महंगाई की मार को, पेट्रोल की बेतहाशा बढ़ती कीमतों को और टैक्स के बढ़ते बोझ को। जनता का बचाव करना सरकार की जिम्मेदारी होती है। लेकिन प्रश्न तो यह है कि किस जनता के बचाव कि जिम्मेदारी है? उनका जो जर्मनी के विशाल हॉल में बैठे थे और जो मोदी जी जैसे ही ज्ञानवान, धीरवान, बुद्धिमान दिख रहे थे। सम्पन्नवान तो वे हैं ही ऐसा हम मान लें तो संभवत: गलत भी नहीं होगा। यह वही वर्ग है जो नव उदारवादी, बाजारवादी अर्थव्यवस्था के ध्वजवाहक होते हैं ।या बचाव कि आवश्यकता है उन किसान, मजदूर, नौजवानों को जो खेत- खलिहानों, दुकानों, दुर्गम स्थलों पर पसीना बहाते हैं । वस्तुत: यही वर्ग सभी श्रम का प्रदाता होता है, किन्तु आज बेसहारा है। सत्य तो यह है कि चिराग तले अँधेरा होता ही है। विकास के दौर में प्राय: इस अँधेरे की तरफ ध्यान नहीं जाता। प्रश्न तो यह है कि क्या मोदी सरकार आत्म विश्लेषण करेगी? शायद यही उस हॉल में बैठे लोग भी चाह रहे थे और ताली खुल कर नहीं बजा रहे थे। आखिर वे भी तो भारतीय जो ठहरे।

खाकी

कमजोर कांग्रेस एक राजनीतिक सच्चाई है, ठीकरा नेतृत्व के सिर पर...

विकास नारायण राय

2014 के लोकसभा चुनाव से कांग्रेस की चुनावी हार का रोलर-कोस्टर सिलसिला थमने का नाम नहीं लेता दिख रहा. पारिवारिक नेतृत्व की पंजीरी बांटने की क्षमता कमतर होते जाने से पार्टी पर भी उनकी पकड़ ढीली पड़नी स्वाभाविक थी. इस दौरान भाजपा का अपनी उत्तरोत्तर वृद्धि को लेकर प्रायोजित शोर जो भी रहा हो, वह भी सर्वांगीण मजबूत पार्टी नहीं हो सकी है. देश का राजनीतिक नक्शा जो मुख्यत: कांग्रेस की कीमत पर बदलता गया है, उसका मोटा-मोटा स्टेटस कुछ इस तरह से बना है-

1. जहाँ भाजपा की प्रमुख टक्कर में कांग्रेस रही, भाजपा येन-केन-प्रकारेण जीती/मजबूत हुयी. कांग्रेस कहीं-कहीं जीती भी तो डांवाडोल रही. छत्तीसगढ़ एक अपवाद रहा; वहां दो-पार्टी संघर्ष में रमण सिंह की भाजपा सरकार अपनी बेहद भ्रष्ट इन्कमबैंसी का चुनावी शिकार बनी.

2. जहाँ भाजपा का मुकाबला संगठित क्षेत्रीय दलों से हुआ, भाजपा हारी/टिक नहीं सकी. बिहार में गठबंधन उसे संभाल गया और महाराष्ट्र में गच्चा दे गया. उत्तर प्रदेश एकमात्र अपवाद रहा जहां अखिलेश यादव के पूर्ववर्ती माफिया राज का हौव्वा योगी सरकार की वापसी में अपना काम कर गया.

3. जबकि बंगाल, ओडिसा, तमिलनाडु, केरल, आंध्र, तेलंगाना, दिल्ली, पंजाब में, जहाँ संगठित क्षेत्रीय दलों का बोलबाला था, भाजपा के पैर नहीं टिकने पाये.

क्या चुनाव-दर-चुनाव बनते इस राजनीतिक नक्शे को सूत्रवत समझा जा सकता है? हाँ, यह संभव है. दरअसल, तीन आयाम चिह्नित किये जा सकते हैं जो किसी राजनीतिक दल को चुनावी संघर्ष में विजय के मुहाने पर खड़ा रखते हैं. ये हैं-

पार्टी का एक दम-खम भरे वोटर वर्ग को आकर्षित करने वाला राजनीतिक प्रोफाइल, पार्टी का जमीनी पैंठ रखने वाला मजबूत संगठन और पार्टी की सरकार का जन-स्वीकार्य गवर्नेंस प्रोफाइल. चुनावी जीत के लिए इनमें से कम से कम दो का अच्छा होना जरूरी हो जाता है, तीसरा भी कामचलाऊ तो होना ही चाहिए. इस त्रि-आयामी समीकरण के पैमाने पर कसने से राजनीतिक दलों की वर्तमान चुनावी तस्वीर कुछ इस तरह से निकलती दिखेगी-

1. भाजपा का राजनीतिक प्रोफाइल और संगठन दमदार रहे हैं. मोदी शोर के बावजूद गवर्नेंस में अच्छा प्रदर्शन कर पाना उनके लिए अधिकांशत: सहज नहीं रहा.

2. कांग्रेस का राजनीतिक प्रोफाइल, उनकी राष्ट्रीय विरासत के चलते, अब भी मजबूत ही माना जाएगा. लेकिन उनका संगठन या तो व्यक्ति आधारित है या एकदम नदारद है. पार्टी का एक बहुत बड़ा हैंडीकैप रहा कि जिन राज्यों में उनकी सरकार रही हैं, वे गवर्नेंस में भाजपा के भ्रष्ट कार्पोरेट शासन से इतर कुछ भी रास नहीं दिखा सके हैं.

3. राज्य सरकार बना पाने में सफल रहे हर क्षेत्रीय राजनीतिक दल का राजनीतिक प्रोफाइल और पार्टी संगठन बेहद संगठित मिलेंगे. गवर्नेंस में भी सिंगिल इंजिन की ये सरकारें वोटर के प्रति अधिक तत्पर और संवेदनशील सिद्ध हुयीं.

4. 'आप' का राजनीतिक प्रोफाइल ढुलमुल है लेकिन उन्होंने इसकी कसर अपनी पार्टी संगठन को जमीन पर दृढ़ता से टिका कर पूरी की है. दिल्ली में गुड गवर्नेंस यानी चुनावी विजय समीकरण का तीसरा आयाम पंजाब चुनाव में उनकी यूएसपी सिद्ध हो चुका है. यदि वे पंजाब में गुड गवर्नेंस के झंडे गाड़ सकें, जो दिल्ली के मुकाबले कई गुणा कठिन कार्यभार होगा, तो और बड़ी सफलताएं उनकी राह देख रही हैं.

सवाल है, क्या काग्रेस कमजोर ही होती जायेगी? हाल में उदयपुर में राज्य सरकार के आतिथ्य में आयोजित उनका चिंतन शिविर राजनीतिक पिकनिक का आभास देता है न कि राजनीतिक संघर्ष का. उनके विकल्प सीमित हैं. वे नेतृत्व में फेर-बदल नहीं कर सकते, न संगठन को मजबूत कर सकते हैं. ले दे कर उनके पास 'आप' की तरह गुड गवर्नेंस के नाम पर राजस्थान और छत्तीसगढ़ में कुछ बेहद जन-स्वीकार्य कर गुजरने का रास्ता ही बचता है. क्या वे रोजगार, मंहगाई, स्वास्थ्य, शिक्षा, सड़क, पानी, बिजली जैसे क्षेत्रों में ऐसी कोई जन-पहल कर सकते हैं? उनका भ्रष्ट और आरामतलब ट्रैक रिकॉर्ड खास उम्मीद नहीं जगाता.

(पूर्व डायरेक्टर, नेशनल पुलिस अकादमी, हैदराबाद)

फिर से वापसी की राह पर किसान आंदोलन!

जनचौक ब्यूरो

हवाओं में अब एक नए सवाल की आमद हो गई है। सवाल यह है कि क्या एक बार फिर देश के किसान कोई बड़ा आंदोलन करेंगे? किसान नेता राकेश टिकैत की मानें तो अब से तेरह महीने बाद ऐसा होने वाला है और इस बार आंदोलन फसलों के न्यूनतम समर्थन मूल्य को लेकर होगा। हालांकि आंदोलन की रूप रेखा की घोषणा उन्होंने नहीं की मगर आंदोलन का एलान तो सार्वजनिक रूप से कर ही दिया है। बेशक भारतीय किसान यूनियन में एक बार फिर टूट हो गई है मगर इस ग्यारहवीं फूट से भी किसानों पर टिकैत परिवार की पकड़ कमजोर नहीं होने वाली।

खैर, राकेश टिकैत की इस घोषणा के बाद अब यह जरूरी हो चला है कि दिल्ली की सीमाओं पर चले एक साल से अधिक लंबे किसानों के आंदोलन की समीक्षा की जाए और इस बात की भी पड़ताल की जाए कि क्या आंदोलन के बिना किसानों की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता? यह भी समझना होगा कि कृषि संबंधी तीनों विवादित कानून वापस लेने के बाद केंद्र सरकार ने किसानों की अभी तक सुध क्यों नहीं ली?

दरअसल शनिवार को दिल्ली स्थित गांधी शान्ति प्रतिष्ठान में किसान आंदोलन के विभिन्न पहलुओं को समेटती पुस्तक ' संकट में खेती = आंदोलन पर किसान ' का विमोचन हुआ था। जनपक्षीय लेखकों और पत्रकारों के लेखों से सुसज्जित इस किताब का संपादन किया है जाने माने पत्रकार अरुण कुमार त्रिपाठी ने। इस किताब में मेरा लेख ' किसान आंदोलन का पंजाब कनेक्शन ' भी शामिल किया गया है। पुस्तक का विमोचन संयुक्त किसान मोर्चा के समन्वयक डाक्टर दर्शन पाल, किसान नेता राकेश टिकैत और प्रोफेसर अभय कुमार दुबे ने संयुक्त रूप से किया था। कार्यक्रम में जहां अन्य किसान नेताओं ने अपने 378 दिन लंबे आंदोलन पर विस्तार से प्रकाश डाला वहीं राकेश टिकैत ने तेरह महीने बाद पुन: आंदोलन की घोषणा कर सबको चौंका दिया।

जिस न्यूनतम समर्थन मूल्य यानि एमएसपी को लेकर आंदोलन की घोषणा की गई है वह कोई नया मुद्दा नहीं है। पिछले आंदोलन की मांगों में भी यह शामिल था और किसान चाहते थे कि इस पर कानून बने। सरकार ने तब घोषणा की थी कि एक कमेटी बना कर उसकी संस्तुति को वह लागू करेगी मगर पांच महीने हो गए मगर अभी तक कमेटी का ही गठन नहीं किया गया। किसान नेता छोटे किसानों को कर्ज के बोझ से निकालने की भी मांग कर रहे थे मगर उस पर भी चर्चा अभी तक नहीं हुई। किसान इस बात से भी कुपित हैं कि सड़कों से दस साल से अधिक पुराने डीजल वाहनों को हटाने की मुहिम में ट्रैक्टर को क्यों शामिल किया गया? बिजली के दाम और पानी की आपूर्ति भी मुद्दा है मगर सरकार की ओर से धरना समाप्त होने के बाद इस ओर भी अभी तक विचार नहीं किया गया ।

बेशक धरने और आंदोलन किसी के हित में नहीं हैं। पिछले आंदोलन में सात सौ से अधिक किसानों की मौत हुई थी और लाखों लोग सड़कें बाधित होने से हलकान हुए थे। देश का आर्थिक चक्का धीमा हुआ था सो अलग । मगर ऐसा क्यों है कि सरकार बिना धरने प्रदर्शन के सुनती ही नहीं? क्यों उसकी चिंताओं में किसान आखिरी पायदान पर खड़े नज़र आते हैं? जबकि देश की सबसे बड़ी आबादी खेती किसानी के बल पर ही जिंदा है। कोरोना और आर्थिक मंदी में भी देश की अर्थव्यवस्था किसानी के दम पर ही टिकी रही। पता नहीं क्यों सरकार को हवाई डींगे मारने से ही फुर्सत नहीं है।

बीस फीसदी पैदावार कम होने के बावजूद प्रधानमंत्री कुछ दिन पहले विश्व पटल पर डींग मारते हैं कि भारत पूरी दुनिया का पेट भरने में सक्षम है और फिर अचानक गेंहू का निर्यात बंद कर देते हैं। रूस और यूक्रेन के बीच चल रहे युद्ध के कारण गेंहू के दाम अंतर्राष्ट्रीय बाजार में यूं भी चढ़े हुए हैं मगर भारतीय किसान को उसका फायदा ही नहीं मिल रहा। विचारणीय है कि क्या किसी बड़े औद्योगिक घरानों के हाथ में खेती होती, तब भी क्या सरकार ऐसा ही करती ? क्या तब रातों रात उनके पक्ष में फैसले नहीं हो जाते ?